अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ सं०

क

वि

का

श्र

ह

म्

याद नहीं कब कुछ उल्टे-सीधे शब्द-चित्र बनाना शुरू किया। इतना ही याद है कि जब होश सम्हाला तो अपने को शब्दों से खेलते हुए पाया। हाँ, उन अटपटे, बेढंगे शब्दों की योजना को, जो जाने किन भावों की अभिव्यंजना में जोड़े जाते थे, खिलवाड़ न कहें तो और क्या कहें ?

एक दिन की बात है, शायद सन् १९२२ की। उन दिनों मैं गाँव की अपर प्राइमरी पाठशाला में तीसरी कक्षा का विद्यार्थी था। मेरे अध्यापक थे मेरे पिता जी के परममित्र पं० राजेश्वर तिवारी जी 'कुंज'। आप कवि हैं और एकान्त कवि हैं, विज्ञापित-विश्व से बहुत दूर बसने वाले। मैंने काग़ज़ के एक टुकड़े पर कुछ पंक्तियाँ जोड़ीं थीं और भूल से स्कूल की एक कॉपी में उसे रख छोड़ा था। दूसरे दिन

पाठशाला में पंडितजी कॉपी देखते-देखते उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वह काग़ज़का टुकड़ा चोरी के माल जैसा छिपा पड़ा था। वह उसे देखने को हुए, मेरा मन जाने कैसा हो आया, जैसे किसी मुग्धा की लाज लुट जाने को हो। मैं झपट कर उसे पंडितजी के हाथों से छीन लेने को हुआ, पर छड़ियों का भय! लेकिन दूसरे ही क्षण देखा पंडित जी मेरी पीठ ठोंक कर मुझे शाबाशी दे रहे थे और मेरी लाइनें मेरे सहपाठियों को सुना रहे थे और मैं कितना गौरवान्वित हो रहा था। उन पंक्तियों में दो मुझे अब भी याद है :—

'ऐ वीर हिन्दवासी तुम चाहते थे लड़ना,
अब सामना पड़ा है दिखला दो अपना अड़ना।'

इन सारहीन पंक्तियों में चाहे पाठक कोई मूल्यवान वस्तु न पायें लेकिन मेरे नज़दीक इनका एक निश्चित मूल्य है क्योंकि मेरे कवि का वह बाल-बोध था।

× × ×

तनिक और बड़ा होकर जो मैं वर्नाकुलर मिडिल स्कूल में दाख़िल हुआ तो कविताओं में और दिलचस्पी पैदा हो गई। दिन रात मेरे हाथ में रहता था मेरे पितामह—भारतेन्दुकाल के प्रख्यात सुकवि स्वर्गीय श्रीयुत रामपरण लाल 'कृष्ण जू' (जिनकी रचनाओं से तत्कालीन पत्र 'रसिक लहरी' आदि भरे रहते थे)—की कविताओं का हस्तलिखित संग्रह। अस्तु,

'माधुरी', 'मतवाला', तथा 'प्रताप' के मेरे पिता जी नियमित और स्थायी ग्राहक थे। इन्हें मैं बड़े चाव से पढ़ता था। एक दिन, सन् २७ में, 'प्रताप' पढ़ते-पढ़ते जी में आया कि मैं भी कुछ भेजूँ, देखूँ छप सकता है कि नहीं। बहुत आगा पीछा सोच कर एक छः पंक्तियों की रचना 'प्रताप' सम्पादक के नाम भेज दी। उत्कण्ठित प्रतीक्षा में लगा जैसे 'प्रताप' साप्ताहिक न होकर कोई त्रैमासिक पत्र है। खैर दूसरा अङ्क आया और मेरी रचना—

'गांधी के पुनीत चर्खे में शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों मे,
मातृ-भूमि के लिए त्याग-बलिदान इन्हीं दो अस्त्रों मे,
वीर-हृदय की जलती हुइ प्रखर चिन्ता ज्वालाओं में,
शिवा, प्रताप प्रभृति वीरों की उन अटूट इच्छाओं मे,

× × ×

नव-स्वतन्त्रता के भावों की गूँज रही है स्वर-लहरी
एक बार हमको भी सुन लेने दो वह स्वर ऐ प्रहरी !'

उसमें प्रकाशित थी। कितनी प्रसन्नता हुई इसका अनुमान शायद पाठक न कर सकें—उतनी, जितनी किसी परीक्षा के पास करने पर भी कभी नहीं हुई। हाँ, एक बात कह देना आवश्यक है कि उक्त रचना में की पहली चार लाइनें तो शब्दशः मेरी ही छपी थीं किन्तु अन्तिम दोनों लाइनें श्रद्धेय प० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' ने एकदम बदल

कर अपनी ओर से जोड़ दी थीं, फिर भी वह तो अब मेरी ही हैं। फिर इसके बाद तो प्रकाशित देखने की लालसा इतनी बढ़ी कि हर पत्र पत्रिका में प्रकाशनार्थ रचनायें भेजने लगा। बहुत बार प्रकाशित भी हुईं, बहुत बार अस्वीकृत होकर वापिस भी आगईं, बहुत बार कोई उत्तर ही नहीं मिला और एकाधिक बार ऐसा भी हुआ कि मुझे सात आठ महीनोंकी प्रतीक्षा के बाद अपनी रचना कुछ परिवर्तित रूप में किन्हीं और महाकवि के नाम से प्रकाशित देखने का सौभाग्य हुआ।

कुछ समय और बीतने पर मुझे लगा, जैसे मेरा कवि कुछ खोजता-सा है, कुछ पाना चाहता है अपने ही में से, और तब मुझे आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसे एक समुचित वातावरण में रखकर 'संस्कार' दिया जाय। फलतः मैं विश्वकवि के शान्तिनिकेतन चला गया और मैं गौरव के साथ कह सकता हूँ (हालाँकि मेरे अधिकांश मित्र मुझे पथ-भ्रष्ट हुआ ही बतलाते हैं) कि वहाँ जाकर मेरे कवि को अपनी दिशा मिल गई, अपना पथ प्राप्त हो गया। गुरुदेव का सान्निध्य, शान्तिनिकेतन का कवितामय वातावरण, और श्रद्धेय प्रो० हजारी प्रसादजी द्विवेदी साहित्याचार्य का सत्सङ्ग इन तीनों के उचित-संयोग से जो संस्कार मेरे कवि ने पाया है वह उसे निभा सके, उसपर स्थिर रह सके, इससे अधिक कामना मैं कर ही क्या सकता हूँ।

तूणीर मेरी इन चौबीस वर्षों की विभिन्न अनुभूतियों का

संग्रह है। इसमें अधिकांशतः मेरे कवि का शैशव ही खेल रहा है, कुछ हँसता हुआ कुछ रोता हुआ और कुछ जोश से उबलता हुआ, बाधाओं से लड़ता हुआ। अधिकांश रचनायें यथार्थवाद की नीव पर ही खड़ी हैं और कुछ 'रहस्यवाद' से भी सम्बन्ध रखती हैं, पर सच कहें, तो कहना होगा कि मुझे इन दो 'वादों' के बीच में विभाजक रेखा (Line of demarcation) खींचने का साहस नहीं है, जिन्हें हो वह खींचें और देखें। कविता को जीवन से पृथक रखकर देखने का मैं आदी नहीं और क्या 'रहस्यवाद' जीवन से परे की वस्तु है ? अस्तु

मैंने कवि के रियायती अधिकारों (Poetic license) का भी छूट कर उपयोग किया है, जैसेः—

'बिसराने से भी बिसरे जो नहीं व' किसी के जवानी की भूल हूँ मैं।'

और भीः—

'रुके न, 'निक यह क्रम सजनी, हाँ खूब चले, हाँ और चले।'

संभव है आलोचकों को यह बात रुचिकर न हो, पर मुझे तो लगता है यदि हिन्दी कविता को विश्व की अन्य प्रगतिशील भाषाओं की कविता के साथ कंधे से कन्धा भिड़ाकर चलना है, यदि उसे अपनी ही झोपड़ी में बन्दिनी बन कर नहीं रहना है तो उसे कवि के रियायती अधिकारों को मान्य करना ही पड़ेगा। मैं नहीं समझता जब अंगरेजी कवि It is

को It's लिख सकता है तो हिन्दी कवि तनिक को 'निक क्यों नहीं लिख सकता।

दूसरी बात जो मुझे कहनी है वह है व्याकरण के सम्बन्ध में। कई प्रचलित-नियमों का मैंने उल्लंघन किया है जिसकी ज़िम्मेदारी मेरी रुचि पर है और दुर्भाग्य से मैं इस Breach of law के लिए व्याकरण के बुज़ुर्गों से क्षमा माँगने के लिए भी तैयार नहीं।

उदाहरण के लिए ले लिया जाय—

'मधुकरी की गुंजार की मधुरता'

मैं इसे यों कहने में दोष नहीं समझता—

'मधुकरी के गुंजार की मधुरता'

कई अकेले शब्द भी ऐसे हैं जो मेरे सामने पुरुष-रूप में खड़े होकर विकृत और कठोर से लग उठते हैं और मेरी रस-भावना मुझे मजबूर करती है कि मैं उन्हें स्त्री-रूप में ही देखूँ। जैसे—

'गात' को पुंलिंग लिखते हुए मेरी लेखनी का भी हृदय सिहर-सा उठता है।

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि इन कविताओं में कुछ को छोड़कर सब में आपको मेरे कवि के बाल-स्वरूप का ही दर्शन होगा। होना यह चाहिए था कि कवि का सर्वोत्तम-रूप ही

जनता के सामने आवे, पर जाने क्यों मेरा कवि जनता में अपने क्रमिक विकास को ही लेकर आना चाहता है। मैं नहीं समझता अपनी शिशुता का चित्र किसी के लिए लज्जा का वस्तु क्यों हो ?

इन भावनाओं और इस 'अहम्' के साथ मेरा कवि आपके सामने आया है और अब यह आपका काम है कि उसे भला या बुरा कहें

पुस्तक में बहुत कुछ प्रूफ़ की अशुद्धियाँ रह गई हैं जो मेरी असावधानी के कारण ही हुई कही जा सकती हैं और जिनके लिए मैं लज्जित भी हूँ।

विद्या-मन्दिर
बालूपुर, बलिया
१९ मार्च '३७

तूणीर का कवि—
मंगला मोहन

को It's लिख सकता है तो हिन्दी कवि तनिक को 'निक क्यों नहीं लिख सकता।

दूसरी बात जो मुझे कहनी है वह है व्याकरण के सम्बन्ध में। कई प्रचलित-नियमों का मैंने उल्लंघन किया है जिसकी ज़िम्मेदारी मेरी रुचि पर है और दुर्भाग्य से मैं इस Breach of law के लिए व्याकरण के बुजुर्गों से क्षमा माँगने के लिए भी तैयार नहीं।

उदाहरण के लिए ले लिया जाय—

'मधुकरी की गुंजार की मधुरता'

मैं इसे यों कहने में दोष नहीं समझता—

'मधुकरी के गुंजार की मधुरता'

कई अकेले शब्द भी ऐसे हैं जो मेरे सामने पुरुष-रूप में खड़े होकर विकृत और कठोर से लग उठते हैं और मेरी रस-भावना मुझे मजबूर करती है कि मैं उन्हें स्त्री-रूप में ही देखूँ। जैसे—

'गात' को पुलिंग लिखते हुए मेरी लेखनी का भी हृदय सिहर-सा उठता है।

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि इन कविताओं में कुछ को छोड़कर सब में आपको मेरे कवि के बाल-स्वरूप का ही दर्शन होगा। होना यह चाहिए था कि कवि का सर्वोत्तम-रूप ही

जनता के सामने आवे, पर जाने क्यों मेरा कवि जनता में अपने क्रमिक विकास को ही लेकर आना चाहता है। मैं नहीं समझता अपनी शिशुता का चित्र किसी के लिए लज्जा का वस्तु क्यों हो ?

इन भावनाओं और इस 'अहम्' के साथ मेरा कवि आपके सामने आया है और अब यह आपका काम है कि उसे भला या बुरा कहें

पुस्तक में बहुत कुछ प्रूफ़ की अशुद्धियाँ रह गई हैं जो मेरी असावधानी के कारण ही हुई कही जा सकती हैं और जिनके लिए मैं लज्जित भी हूँ।

विद्या-मन्दिर
चालू पुर, बलिया
१९ मार्च '३७

तूणीर का कवि—
मंगला मोहन

प्रस्तावना

हिन्दी का वर्तमान साहित्य बड़े वेग से उन्नति कर रहा है। कविता का विभाग तो शायद अन्य सभी क्षेत्रों से अधिक फल-फूल रहा है। आज से कुछ महीने पहले मैंने कविताओं का वर्गीकरण किया था। देखा, हिन्दी की वर्तमान कविता में कुछ उदासी, कुछ विरह कुछ अवसाद और कुछ थकान का-सा भाव आता जा रहा है। अभी कल तक जो साहित्य स्वकीया और परकीयाओं के कल-कल्लोलों से मुखरित हो रहा था उसमें अचानक इस प्रकार की उदासी आ जाना कुछ विचित्र ज़रूर है, पर आश्चर्य-जनक नहीं। आज का युवक-कवि केवल ब्रजभाषा या संस्कृत कवियों के पुराने संस्कारों से ही प्रभावित नहीं है; उसके सामने सारे संसार का साहित्य है, वह अचानक एक नये प्रकाश में आ उपस्थित हुआ है, जो आकर्षक भी है और उत्तेजक भी। युवक में-का कवि-पुरुष इसकी उपलब्धि करना चाहता है, पर उपलब्धि को प्रकट करने के लिए उसे भाषा की आवश्यकता है। पुरानी भाषा, फिर चाहे वह खड़ी बोली हो या ब्रजभाषा, इसके लिए उपयुक्त वाहन नहीं है। उसे भाषा की रचना करनी पड़ी है।

यह भाषा अस्पष्ट है, अग्राह्य है, पर यह नहीं कह सकते यह सदा योंही रहेगी। क्यों यह भाषा अस्पष्ट है और क्यों यह सदा योंही नहीं रहेगी? इसके समझने का प्रयत्न आगे किया जा रहा है।

वर्तमान युग की ललित-कला बराबर रूप से अरूप की ओर अग्रसर हो रही है। क्या काव्य-कला, क्या चित्र-कला, क्या नृत्य-कला सर्वत्र रूप को यथासाध्य गौण स्थान दिया जा रहा है। पुराने युग से आज के युग में एक अन्तर है। पुराना कवि अरूप की व्यञ्जना ठोस रूप के आधार पर करता था, जब वह किसी सुंदरी को गज-गामिनी कहता था, तो यह जानकर भी कि हाथी के लम्बे-लम्बे स्थूल, विशाल पैर की कल्पना भी सौन्दर्य घातक है, वह इसी ठोस रूप का आश्रय लेता था और गज के इस ठोस रूप का सर्वस्व त्याग करके उसकी मस्तानी चाल भर को—जो अरूप (Abstract) वस्तु है—व्यक्त करता था, परन्तु वर्तमान युग का कवि रूप के इस ठोस आवरण की आवश्यकता नहीं समझता, उसकी उपमा में, उसके रूपक में, और उसकी उत्प्रेक्षा में यथा-साध्य इस रूप की उपेक्षा होगी। अगर किसी मस्तानी चाल का वर्णन करना ही हुआ, तो वह न गज के भारी भरकम पैरों की ओर देखेगा और न हंस के छत्राकृति पंजे की ओर। वह कहेगा कि बाला इस मस्ती से झूम-झूमकर मंद पद विक्षेप कर रही थी मानो बहुत दिनों से विस्मृत, उपेक्षित प्रेमी को अपना हितू देखकर स्मृति अतीत काल की पुरातन घटनाओं को एक-एक करके धीरे-धीरे छूती और छोड़ती जाती हो! चित्र-कला में यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो उठी है। यूरोप के वर्तमान-युग के तथा-कथित Abstract art की आलोचना जिन लोगों ने की है,

वे जानते हैं कि उसमें रूप की कितनी गहरी उपेक्षा हुई है, पर यह उपेक्षा कितनी असफल रही है। कविता में असफलता उतनी प्रत्यक्ष नहीं हो पाई, क्योंकि एक तो कविता के संसार में Abstract art किसी-न-किसी रूप में सर्वदा रहा है; दूसरे उसका प्रधान आश्रय—भाषा—स्वयं बहुत कुछ अरूप वस्तु है। यही कारण है कि चित्र-कला में अरूप वस्तु जहाँ वैयक्तिक प्रतीक-वाद Symbolism का रूप धारण कर गई है (यद्यपि कलाकार कभी इसे प्रतीकवाद नहीं कहता) और इसीलिए दुरधिगम्य हो गया है; वहाँ कविता में वह उतना अग्रसर नहीं हो सका। कारण यह है कि चित्र-कला में आप एक उलटी-सीधी रेखा खींच कर उसमें इच्छानुरूप रंग भर के उसे शान्ति या क्रोध का प्रतीक तो कह सकते हैं, पर कविता के लिए उलटा-सीधा शब्द या पद या छन्द रचकर उसे प्रेम या घृणा का प्रतीक नहीं कह सकते।

असल बात यह है कि मनुष्य किसी वस्तु को रूप के द्वारा ही उपलब्ध करता है। रूप की सीमा होती है। अतः ससीम ही अरूप (और फलतः निःसीम) की उपलब्धि का साधन है। सान्त और अनन्त के इसी द्वंद्व को कलाकार अपनी कला द्वारा व्यक्त करता है। यह द्वंद्व जितनी ही अच्छी तरह चित्रित किया जायेगा, आनंद भी उतना ही अधिक होगा। संगीत के राग का आनंद प्राप्त होता है ताल की सीमा से। कविता के छंद का सारा आनंद इसी बात में है कि वह कुछ मात्राओं की सीमा में बँधा रहता है। सारनाथ के ध्यानी बुद्ध का सारा सौन्दर्य एक निश्चित सीमा में बद्ध है। इसी सीमा में बँधने के कारण अरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। तथा कथित Abstract art

भी रूप की इस सीमा का अतिक्रम नहीं कर सका। कर ही नहीं सकता।

पर यह सत्य है कि निःसीम की उपलब्धि ही कला का चरम लक्ष्य है। एक यूरोपियन कला मर्मज्ञ ने कहा है कि कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्थिति-शील वस्तु में निरन्तर गतिशील वस्तु को अभिव्यक्त करती है। निरन्तर गति स्वयं निःसीम वस्तु है। इसकी उपलब्धि भी ससीम पद विक्षेप के द्वारा होती है। इसलिए वर्तमान युग का कलाकार जी जान से विशुद्ध अरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा में है। उसकी धारणा है कि गज-गामिनी में का गज अत्यन्त स्थूल पदार्थ होने के कारण गमन को अभिव्यक्त करने का अनुचित साधन है। इसके प्रयोग करने से कला विशुद्ध नहीं रहती। पर उसके बिना काम भी नहीं चलता। ऐसी स्थिति में 'गज' के स्थूल रूप को जितना ही सूक्ष्म किया जायगा कला उतनी ही विशुद्ध होगी! यह बात गणित-ज्योतिष के 'असकृत् कर्म' से बहुत कुछ मिलती है। जब ज्योतिषी को कोई सूक्ष्म और वास्तविक आधार नहीं मिलता तो स्थूल उपादानों से सूक्ष्मतर वस्तु का ज्ञान करता है। फिर इस नवागत फल को स्थूल कल्पना करके नये सिरे से और भी अधिक सूक्ष्म फल का आनयन करता है। इस प्रकार बारंबार क्रिया (असकृत् कर्म) करके वह निकटतम सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। गणित के विषय में जो बात सच है वह कला के विषय में सच नहीं भी हो सकती है। पर आधुनिक वैज्ञानिक युग में कला और गणित के बीच में लकीर खींचने का साहस बहुत कम लोगों में रह गया है।

जानकर हो या अनजान में हिंदी कविता में भी इस अरूप वस्तु को यथासाध्य अरूप के द्वारा उपलब्ध करने का प्रयास हो रहा है। अगर उस और इस युग के दो बड़े कवियों की किसी एक ही अभिव्यक्ति को साथ रखना संभव हो, तो हमारी बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। 'ख' भी यह दिखाने की चेष्टा करता है कि वह 'क' का प्रेमिक है। इसी बीच एक दिन ऐसी घटना घटी कि 'क' को अब सन्देह नहीं रह गया कि 'ख' का प्रेम बनावटी है। पुरानी स्मृतियों ने ज़बर्दस्ती आँसुओं को ढकेल दिया। या यों कहिये कि पुरानी स्मृतियाँ ही मस्तिष्क में मेघ रूप होकर आँखों के रास्ते पानी होकर बह गईं! 'क' का प्रेमिक सामने ही है, वह अब भी निःस्वार्थ भाव से उसे प्रेम कर सकता है। इस नीकी दशा में फीका होने का कोई कारण नहीं है पर प्रेम का कार्य कारण के परे है। इसी भाव को पुराने युग के महाकवि देव को दीजिये। वे बोल उठेंगे—

'नीके मे फीके ह्वै आँसू भरे कत?
ऊँचो उसास गरथो क्यों भर्‍यो परै?
'रावरो रूप पियो अँखियान,
भरथौ सो भर्‍यौ उबर्‍यो सो ढर्‍यो परै!'

फिर आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवि 'प्रसाद' के हाथों में दीजिये। हमारा विश्वास है कि वे कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे—

भी रूप की इस सीमा का अतिक्रम नहीं कर सका। कर ही नहीं सकता।

पर यह सत्य है कि निःसीम की उपलब्धि ही कला का चरम लक्ष्य है। एक यूरोपियन कला मर्मज्ञ ने कहा है कि कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्थिति-शील वस्तु में निरन्तर गतिशील वस्तु को अभिव्यक्त करती है। निरन्तर गति स्वयं निःसीम वस्तु है। इसकी उपलब्धि भी ससीम पद विक्षेप के द्वारा होती है। इसलिए वर्तमान युग का कलाकार जी जान से विशुद्ध अरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा में है। उसकी धारणा है कि गज-गामिनी में का गज अत्यन्त स्थूल पदार्थ होने के कारण गमन को अभिव्यक्त करने का अनुचित साधन है। इसके प्रयोग करने से कला विशुद्ध नहीं रहती। पर उसके बिना काम भी नहीं चलता। ऐसी स्थिति में 'गज' के स्थूल रूप को जितना ही सूक्ष्म किया जायगा कला उतनी ही विशुद्ध होगी! यह बात गणित-ज्योतिष के 'असकृत् कर्म' से बहुत कुछ मिलती है। जब ज्योतिषी को कोई सूक्ष्म और वास्तविक आधार नहीं मिलता तो स्थूल उपादानों से सूक्ष्मतर वस्तु का ज्ञान करता है। फिर इस नवागत फल को स्थूल कल्पना करके नये सिरे से और भी अधिक सूक्ष्म फल का आनयन करता है। इस प्रकार बारंबार क्रिया (असकृत् कर्म) करके वह निकटतम सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। गणित के विषय में जो बात सच है वह कला के विषय में सच नहीं भी हो सकती है। पर आधुनिक वैज्ञानिक युग में कला और गणित के बीच में लकीर खींचने का साहस बहुत कम लोगों में रह गया है।

जानकर हो या अनजान में हिंदी कविता में भी इस अरूप वस्तु को यथासाध्य अरूप के द्वारा उपलब्ध करने का प्रयास हो रहा है। अगर उस और इस युग के दो बड़े कवियों की किसी एक ही अभिव्यक्ति को साथ रखना संभव हो, तो हमारी बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। 'ख' भी यह दिखाने की चेष्टा करता है कि वह 'क' का प्रेमिक है। इसी बीच एक दिन ऐसी घटना घटी कि 'क' को अब सन्देह नहीं रह गया कि 'ख' का प्रेम बनावटी है। पुरानी स्मृतियों ने ज़बर्दस्ती आँसुओं को ढकेल दिया। या यों कहिये कि पुरानी स्मृतियाँ ही मस्तिष्क में मेघ रूप होकर आँखों के रास्ते पानी होकर वह गईं! 'क' का प्रेमिक सामने ही है, वह अब भी निःस्वार्थ भाव से उसे प्रेम कर सकता है। इस नीकी दशा में फीका होने का कोई कारण नहीं है पर प्रेम का कार्य कारण के परे है। इसी भाव को पुराने युग के महाकवि देव को दीजिये। वे बोल उठेंगे—

'नीके में फीके ह्वै आँसू भरे कत?
ऊँचो उसास गरथो क्यों भर्‌यो परै?
'रावरो रूप पियौ अँखियान,
भरथौ सो भर्‌यौ उबर्‌यो सो ढर्‌यो परै!'

फिर आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवि 'प्रसाद' के हाथों में दीजिये। हमारा विश्वास है कि वे कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे—

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।'

वर्तमान युग की कविता यथासाध्य अरूप को इस प्रकार से प्रकट करना चाहती है कि रूप का स्थान उसमें गौण हो जाय। इस प्रयत्न में उसने नाना प्रकार के अस्पष्ट भावों की कल्पना की है जो चित्र-कला के उस वस्तु के भाईबन्द हैं जिन्हें वैयक्तिक प्रतीकवाद कह सकते हैं। वैयक्तिक प्रतीकवाद से मतलब उस प्रतीकवाद (Symbolism) से है जिसे उसके आविष्कर्ता ने अपनी पसन्द के अनुसार चुन लिया है। पर यह चुनाव जब परम्परा से बहुत दूर चला जाता है, तो क्लिष्ट और दुरधिगम्य हो जाता है। उदाहरण के लिए अनन्त को अभिव्यक्त करने के एक प्रतीक को लिया जाय। शंख में या नीहारिकाओं में जो एक प्रकार का घुमाव या आवर्त होता है उसे प्राचीन और आधुनिक युग के कला-कारों ने (पूरब और पश्चिम, सर्वत्र) अनन्त का प्रतीक माना है। भारतवर्ष में नाना वर्त या घुमाव को (जैसे स्वस्तिक चिह्न में, या प्रणव में) मुख्य स्थान दिया गया है। कहीं-कहीं दक्षिणावर्त भी ग्रहण किया गया है। इसकी कल्पना ग्रहचक्र के वास्तविक भ्रमण से की गई है। अगर कलाकार मूल परम्परा को अक्षुण्ण रखकर अपनी प्रतिभा से उसे नवीन कर देता है, तो बात समझ में आ जाती है; पर अगर उसने परम्परा की उपेक्षा करके टेढ़ी-मेढ़ी लकीर खींच दी तो निश्चय ही वह उसी की समझ तक सीमित रहेगा। परन्तु मान लिया जाय कि उसने अनन्त की कल्पना परवलय (Parabola) या अति परवलय (Hyperbola) से ग्रहण की, जो मान

लिया जाय कि परम्परा के अनुकूल नहीं है (यद्यपि यह बात सच नहीं है) तो उसमें औचित्य की मात्रा पर्याप्त रहेगी और कलाकार की इस नई सूझ की प्रशंसा ही की जायगी। जो बात चित्र-कला के विषय में सच है वही कविता के विषय में भी सच है। रवीन्द्रनाथ की अपरिमित चिन्ताराशि की महिमा इसीमें है कि नूतन को भी उन्होंने औचित्य के साथ अभिव्यक्त किया है।

अब हिन्दी के युवा कवि की ओर दृष्टि-पात किया जाय।

सारे हिन्दी साहित्य की अस्पष्ट परिभाषाओं की छानबीन करने की अपेक्षा किसी एक अस्पष्ट (आरोपित अस्पष्टता युक्त) शब्द को लेना अच्छा होगा। इससे हमारे विचार का क्षेत्र असीमित ज़रूर हो जायगा, पर ससीम ही तो असीम की उपलब्धि का प्रधान साधन है! लिया जाय एक शब्द, मधुर वेदना।

कबीर से इसकी परिभाषा पूछी गई होती, तो अपने पुराने युग के ठोस रूपावरण से अभिव्यक्त करनेवाली पद्धति से कहते—

प्राण कहे सुन काया मेरी,
तुम हम मिलन न होय।
तुम अस मित्र बहुत हम पाया,
संग न लीना कोय।

रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग,
रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा;

असीम जे चाह् सीमार निबिड़ संग,
सीमा हते चाय असीमेर माझे हारा। *

अर्थात् सान्त और अनन्त का, भंगुर और सनातन का यह द्वन्द्व ही जगत् का आनन्द है। सान्त अनन्त से मिलने को उत्सुक है और चूँकि वह सान्त है उसका वियोग अवश्यंभावी है। उसे मिलन (क्षणभर के मिलन) के बाद सनातन विरह का शिकार होना पड़ेगा। मृत्यु से बढ़कर स्थिर सत्य और क्या है? तथापि सारा संसार उस आनन्द के लिए धावमान है जिसका अन्तिम परिणाम विरह वेदना है। इस युग के कवि के कंठ में कंठ मिला-कर सारा विश्व उस आनन्द मुहूर्त में चिल्ला रहा है—

'शेष वसन्त रात्रे
यौवन रस रिक्त करिनु विरह वेदन पात्रे।'

इस विराट् सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए हिन्दी के युवक कवि ने एक शब्द चुना है—मधुर वेदना। और अनुभूति की कमी बेशी के कारण इसको नाना रूप दे रखा है। कहना नहीं होगा कि अनधिकारी हाथों में पड़ कर इस शब्द को पर्याप्त दुःख भी उठाना पड़ा है।

जब कवि इस शब्द का प्रयोग करते समय सचमुच इसके विराट् रूप को अनुभव किये रहता है तो कविता सचमुच कविता

---

* भाव पाना चाहता है रूप में शरीर,
रूप पाना चाहता है भाव में मुक्ति;
(जो) असीम है वह चाहता है सीमा का निविड़ संग और सीमा असीम में खो जाना चाहती है।

होती है। पर जहाँ प्रति दिन की छोटी-मोटी कठिनाइयों से ऊब कर आदर्शवाद के रटे-रटाये पाठों में मधुर वेदना को 'फिट' कर देने की चेष्टा की जाती है वहाँ कविता में थकान का-सा, उदासी का-सा भाव आ जाता है। असल बात यह है कि कठिनाइयों को सामने करने के कारण कवि का चित्त निस्सन्देह अनुभूति पूर्ण होता है पर आदर्शवाद का रटा हुआ पाठ उस अनुभूति के वेग को शिथिल कर देता है। युवक में का कवि-पुरुष रास्ता न पाकर हार मानकर बैठ जाता है। पर जहाँ युवक में का कवि पुरुष हार मानना नहीं जानता वहाँ कविता भी इस रूप में प्रगट होती है। मंगलामोहन की ही कविता में से इन दोनों बातों का उदाहरण दिया जा सकता है। राजनीतिक बन्दी मंगलामोहन जेल में नाना यातनाओं का शिकार बने बैठे हैं। कुछ ही क्षण पहले जेलर के दण्ड-प्रहार से राजनीतिक बन्दी का शरीर चूरमार हो गया है। सावन की उस मनोहर रजनी में विलास का पला युवक में-का कवि-पुरुष विद्रोह कर उठता है। अत्यन्त सीधी-सादी पर हस भाषा में वह कह उठता है—

सावन की सूनी रजनी मे जब बादल छाये होते हैं,
यह जगत स्वारथी क्या जाने हम सोते हैं या रोते हैं!

• • •

नाहक इतना दुख झेल रहा हूँ, क्यों दुनिया की शंका है?

• • •

इसी समय आदर्शवादी मंगलामोहन ज़बान पकड़ लेता है। स्खलवीर्य कवि-पुरुष पराहत भाव से कहता है—मानो वह थक गया हो उसमें का दर्प नष्ट हो गया हो—

कोई दिन तो आयेगा जब जयश्री जयमाला मेलेगी।
वर्षा बीतेगी मम आँगन मे शरचन्द्रिका खेलेगी॥

हिन्दी युवा कवियों में ८० प्रतिशत तो इसीलिए थकान भरी कविता लिख रहे हैं। दूसरे प्रकार की कविता भी मंगला-मोहन की कविता से ही उद्धृत की जा सकती है। 'बन्दी गृह में' शीर्षक कविता में युवक में कवि-पुरुष पराभूत नहीं हुआ है। वह अपनी उपलब्धि को अत्यन्त साहस के साथ प्रकट कर सका है। पर इन दोनों कविताओं में एक बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वह यह कि पहली कविता में कवि जहाँ कहता है—

'वैसे मम काले नियति दुर्ग पर
आशा दीप दिखाते है।'

वहाँ वह वस्तुतः निराश है और जहाँ दूसरी कविता में वह निराश भाव से कहता है—

नहीं पता है कब तक टूटेंगी,
माता की हथकड़ियाँ।
द्रुपद सुता के चीर सदृश,
बढ़ती जाती दुख की घड़ियाँ।

वहाँ वह वस्तुतः दृढ़ है, साहसी है!

× × ×

हिंदी की नवीन कविता की सर्वांगीण विवेचना नहीं की जा सकती क्योंकि अभी उसने कोई निश्चित रूप धारण नहीं किया है, परन्तु इतना निश्चित-सा जान पड़ता है कि संसार की प्रवृद्ध

और प्रवर्द्धमान भाषाओं के साथ ही वह भी चलेगी। हिन्दी का नवीन कवि संसार के साहित्य से अधिकाधिक प्रभावित होता जा रहा है। किसी युवक कवि की कविता की आलोचना भी पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, क्योंकि आज जो युवक उथले अनुभवों की असफल अभिव्यंजना के कारण आनन्द और शोक दोनों ही अवस्थाओं में उदास दिखाई पड़ता है कल वह गंभीर तत्ववादी और आनन्दवादी हो सकता है। कभी-कभी अनुभुति की गंभीरता होते हुए भी अभिव्यक्ति की दुर्बलता से कवि का प्रयत्न असफल-सा ज्ञात हो सकता है। इसीलिए युवक की कविता को सहानुभूति के साथ देखना चाहिए, संभव हो तो इतस्ततः विक्षिप्त विचारों के मूल सूत्र का पता लगाना चाहिए ताकि वह अपने वास्तविक रूप को पहचान सके।

मंगलामोहन की कविताओं को देखने से जान पड़ेगा कि वे हिन्दी के ८० फ़ीसदी उदास कवियों की जाति के नहीं हैं। शुरु में लिखी कविताओं में कवि अपने आत्म-स्वरूप को वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं कर सका है, पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया है, त्यों-त्यों अपने आत्मरूप को पहचानता गया है। एक बार जिस कवि को इन पक्तियों में एक अपरिपूर्ण आनन्द की उपलब्धि होती है—

प्रति निमेष मे यहाँ दीखता एक नया बाजार सखी,
श्वासों के झूले पर झूल रहा है यह ससार सखी,
कभी विजय है इस जीवन मे और कभी है हार सखी,
रुदन हास्य मे ही कटते है जीवन के दिन चार सखी।

× × ×

किन्तु नहीं सुख दुख दोनों हैं दो पलकों के खेल सखी,
इस सागर के वीचि-वीचि में सृष्टि प्रलय का मेल सखी।

उसे ही आगे चलकर अपरिपूर्णता में एक परिपूर्ण आनंद का आभास भी मिलता है—

नयनों के नील कमलदल में,
तुम गंध मुग्ध मधु अंध मधुप मन का आवाहन कर वाले,
हो डाल रही किस हलचल में।

मद की सरिता-सी बह निकले
पीता जा कोई कह निकले
हँस लेगी दुनिया पागल कह
फिर हो जायेगी मौन स्वतः
हाँ, आरे जीवन की उमंग
बरसा जा अमृत पल-पल में।

इन दोनों कविताओं को पढ़ने वाले सहृदय के लिए यह बताने की ज़रूरत नहीं जान पड़ती कि पहली कविता के तत्त्व ज्ञान की उलझन की अपेक्षा दूसरी की हलचल अधिक सुलझी हुई और स्पष्ट है।

मंगलामोहन की राष्ट्रीय कविताएँ सजीव हुई हैं। मेरा अपना विचार है कि राजनीति पर आश्रित कविताएँ अपना महत्व खो देती हैं। वह एक विशेष देश, विशेष काल और विशेष अवस्था की संकीर्ण सीमा में आबद्ध होकर कविता के वास्तविक

रस से दूर पड़ जाती हैं। परन्तु वे राष्ट्रीय कविताएँ जो कवि के हृदय से निकलती हैं—जो राष्ट्र की नहीं, कवि की चीज़ होती हैं—संसार में अपनी स्थायी महिमा छोड़ जाती हैं। मंगला-मोहन की राष्ट्रीय कविताओं में कवि की अपनी चीज़ भी कम नहीं है। कुछ कविताओं में पर्याप्त जीवन है। ऊपर से देखने से नीचे के दो वक्तव्यों में महान् अन्तर है—

(१) हम सोये हैं, टकराती विप्लव की लहरें दीवारों से
हे कवि जागृत करदो हमको अपने शब्दों की मारों से।
अब निर्झर के कलरव अलिकुल के मर्मर शब्दों के बदले,
बलि वीरों की हुकार सुनाओ दानवता का दिल दहले।

× × ×

(२) किस असीम अँधियारी मे यह असफल मुख ले जाऊँ ?
जिस से छिद्रान्वेषी जग का हँसना देख न पाऊँ ?
उफ् जगती का कुटिल व्यंग अब नहीं सहा जाता है
इस प्रकाश के मेले मे अब नहीं रहा जाता है।

परन्तु असल में इन दोनों कविताओं का मूल उद्गम-स्थान एक ही है। कवि की अन्तरात्मा के सामने एक ही स्वप्न है—सफलता। आरम्भिक उमंग में अपने इस स्वप्न को निश्चित सत्य समझ कर वह जो कुछ कह जाता है, ठीक वही बात अन्तिम निराशा के समय भी कहता है। इन दो परस्पर विरोधी वक्तव्यों का एक ही अर्थ है, और वह है, वर्तमान पर ही—एक मात्र वर्तमान पर ही केन्द्रित यौवन का स्वाभाविक आवेश। जोश में वह बिल्कुल भूल जाता है कि सफलता इतनी सरल पहेली नहीं

है, असफलता में वह ठीक उसी प्रकार भूल गया है कि असफलता का बीच में आ जाना कुछ लज्जित होने की बात नहीं है। 'असफलतायें बहुधा सफलता की वास्तविक दूरी बताने के लिए आया करती हैं।' अगर कवि की दृष्टि केवल वर्तमान पर ही केन्द्रित न होती तो पहली कविता में उसकी उमंगें इतने अवाध रूप में प्रकट न होती और न दूसरी में असफलता पर उसे इतना खेद ही होता। वर्तमान को इतना महत्त्व देना संकीर्णता अवश्य है पर इसी संकीर्णता ने कविता को कवि के वास्तविक व्यक्तित्व के बहुत निकट कर दिया है। और इसीलिए इनमें जीवन है। अगर इन कविताओं में कवि ने कृत्रिम गम्भीरता धारण करके फ़िलासफी का अपरिपक्व विचार इसमें ठूँसा होता तो निश्चय ही वह निर्जीव हो जाती। क्या यह खेद करने की बात नहीं है कि युवक कवियों में से कितने ही इस गम्भीरता का असफल स्वाँग रचते हैं?

अवस्था की परिपक्वता के साथ मंगलामोहन जी की कविताओं में अनुभूति की तीव्रता भी अधिकाधिक स्पष्ट होती गई है, फेन कम होता गया है और रस विशुद्ध आकार में प्रकट होता गया है। इस अवस्था की कविताओं में सभी तरह के विषय हैं, पर कवि उन्हें अपने विशेष दृष्टिकोण से देखता है। यह वर्तमान युग के वायुमंडल में बहते हुए शब्दों को मधुर झंकार में गूँथने का प्रयास नहीं है, बल्कि इस वायुमंडल में उड़ते हुए विचारों को अपनी समझ और सूझ के अनुसार रूप देने की चेष्टा है। इस बात में मंगलामोहन इस युग के युवक कवियों में से अधिकांश की अपेक्षा अपना व्यक्तित्व उसमें अधिक स्पष्टता से प्रकाशित कर-

पाये हैं और इस प्रकाशन में एक विशेष प्रकार का साहस है जिसकी तरफ़ पाठक बरबस आकृष्ट होता है—

उस सुन्दरि का रूप निरेखा, जग कहता है 'पाप किया।'
उस युवती से हँसकर बोला, जग कहता है 'पाप किया।'
उस विधवा के आँसू पोंछे, जग कहता है 'पाप किया।'
उस गरीबिनी के दुख पूछा, जग कहता है 'पाप किया।'
मानवता का ह्रास पुण्य पर्दे मे लख सन्ताप हुआ।
अरे ज़रा-सा हृदय हमारे जीवन का अभिशाप हुआ।
कैसे किसी सहारा के फैले कर को झटकार सकें ?
कैसे इस समाज के उर से अपने मन को मार सके ?

अपनी अनुभूतियों के बल पर कवि सारे जगत को विशाल समवेदना की दृष्टि से देखने लगा है, 'अज्ञान' नामक कविता में यह बात बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है—

किसे पता किस एक ठेस ने पागलपन का सृजन किया है !
किसे पता किस एक याद ने किसको अक्षय जलन दिया है !
कौन घाव नासूर बना बैठी है किस के भग्न हृदय मे !
कौन आग धू-धू जलती रहती है किसके स्वर्ण-निलय मे !

और

किस भिखारिणी के अंचल मे कब नीलम सा लाल भरे थे !
किस सौन्दर्य विहीना के अधरों पर अरुण प्रवाल धरे थे !

इसीलिए कवि की अभिलाषा है कि—

तनिक किसी के अन्तर्जग में आँसू ले घुस पाती आँखें!
धन्य मानता पूरी होतीं शत-शत जीवन की अभिलाषें!

इस प्रकार की अनुभूति सचमुच कविजनोचित है। जिस कवि की दृष्टि संसार की रूढ़ियों के जटिल आवरण को भेद कर सहज सत्य तक—मनुष्य के अन्तर्निहित दुःख और सुख तक—न पहुँच सकी उसने कवित्व नहीं किया, कविगिरी की। मंगला-मोहन जी के इन आरंभिक कविताओं में इस भाव को देखकर आनंद होता है। जिन कविताओं में कवि नितान्त साधारण रूप में अपने दुःख सुख की बात कहता है उनमें भी जीवन है। युवक कवि ने जिन पहली रचनाओं को हिन्दी जगत् के सामने रखने का प्रयास किया है उनमें जीवन और व्यक्तित्व का चिह्न देखकर सभी सहृदय प्रसन्न होंगे। मुझे आशा और विश्वास है कि भविष्य में यह कवि और भी तेज़ी के साथ उन्नति करेगा।

शान्तिनिकेतन
गांधी दिवस (१० मार्च) १९३७

हजारीप्रसाद द्विवेदी

स
म
र्प
ण
'तूणीर',
मेरा सबसे प्रिय खिलौना
समर्पित है,
उस देवता को,
जिसने अलभ्य को भी लभ्य समझकर,
भयानक दुर्गन्धि पूर्ण वातावरण से भी
खींच कर मुझे अनेक बार कलेजे से लगाया है

उस मनुष्य को,

जिसने मुझे बनाने में अपना सर्वस्व विगाड़ा है, और
सर्वस्व विगाड़ कर भी स्यात् जो कृतकार्य
न हो सका है।

उस कवि को,

जिसकी ये पंक्तियाँ मेरे जीवन में पथ-प्रदर्शिका सी हैं:—

'पासे हक, हुब्बे-वतन, उल्फ़ते ईमान रहे,
आदमीयत यही पैग़ाम ले के आई है।'

उसको,

जो मेरा पिता है, और पिता होकर भी जो माता,
बहिन, सखा, सहोदर, और सब कुछ है।

श्रीयुत वासुदेव जी
(कवि के पिता)

तूणीर

कौन

मेरे मन-मन्दिर में मुखरित,
किस मुरली की मोहक-तान ?
किस सुन्दर की रूप-माधुरी,
छिटकी नयनों में छबिमान ?
कौन अकारण खींच रहा मन,
बन कर सस्मित मृदु-मुसकान ?
किसके तिरस्कार पर लुट जाने,
को कहता पागल प्रान ?
कौन हृदय के कोने में बैठा गुद-गुदा रहा है मौन ?
अरे ! बिखेर रहा मधुकण है, इस जग के आँगन मे कौन ?

कहानी

उनके अत्याचारों से व्याकुल होकर उस रजनी को,
निकल पड़ा घर से मैं आह ! बिलखती तज निज सजनी को;
'देश-प्रेम दासों का' कहा किसी ने 'कहलाता अपराध।'
किन्तु यहाँ तो मचल रही थी उर मे मर मिटने की साध ॥

• • •

कहा किसी ने 'इन कोमल हाथों में हथकड़ियाँ होंगी।'
हृदय उल्लसित होकर बोला 'वह सुख की घड़ियाँ होंगी।'
कहा किसी ने 'सर का सौदा मत कर ओ उन्मत्त जवान।'
किन्तु 'बढ़ो, मिट जाओ' कहता था उर का आहत अभिमान ॥

• • •

कुछ ही दिन में पाया अपने को कारा मे पड़ा हुआ।
स्वेच्छाचारी, निर्मम शासन की आँखों मे गड़ा हुआ ॥
जगत पुकार उठा क्षण में 'यह निरपराध है, निर्मोही!'
किन्तु, कुटिल कानून ने कहा 'दो फाँसी, है विद्रोही ॥'

• • •

मैं मिट जाऊँ धधक अचानक महा प्रलय की आग उठे।
अनाचार जल जाये, सुख का मधुर चतुर्दिक राग उठे ॥

ओ मेरी आशा, अभिलाषा, व्याप्त हो रहो कण-कण मे !
परिमित होकर मत रह जाओ केवल मेरे ही मन मे ।।

• • •

मेरे कवि ने यही व्यथित हो उस दिन सुनी कहानी थी ।
जिसको सुख से सोने वाले कहते है नादानी थी ।।

अंतर्द्वन्द्व

'तज दूँ ? कितने भोलेपन से मेरी सरला सोती है !'
'निश्चय तज दो, देखो जननी बिलख-बिलख हा ! रोतीहै।'
'तज दूँ ?' उफ ! कैसे तज दूँ रे, माता-पिता-सदन-पुरजन ?'
'निश्चय तज दो,' कहतेही विचलित हो उठा युवकका मन ।

× × ×

'जीवन की मृग-मरीचिकाओ !' बोल उठा 'बढ जाने दो।'
'मातृ-भूमि की बलिवेदी पर हँस कर शीश चढ़ाने दो॥'

कवि से

हम सोये हैं, टकरातीं विप्लव की लहरें दीवारों से !
हे कवि, जागृत कर दो हमको अपने शब्दोंकी मारों से ।
अब निर्झर के कलरव अलिकुलके मर् मर् शब्दोंके बदले,
बलि वीरों को हुंकार सुनाओ दानवता का दिल दहले ॥
जब से यह भूषण-हीन हुआ भारत तब से तकदीर फिरी ।
इस महाराष्ट्र के हाथों से उस दिन से ही शमशीर गिरी ॥

पांचाल वही, बंगाल वही, पर गत गौरवका ज्ञान नहीं ;
है पाटलि पुत्र महान वही, पर चन्द्रगुप्त की शान नहीं ;
मदरास वही, मैसूर वही, पर वह टीपू सुलतान नहीं ;
है राज-स्थान वही, लेकिन वह रजपूती अभिमान नहीं ,
गायक अतीत की गाथाओं को गा दो जीवन ज्योति जगे ।
मुर्दों का मन भी मत्त बने प्राणों की ममता दूर भगे ॥

श्रीराम-कृष्ण के युक्त-प्रान्त को निज मर्यादा सूझ पड़े,
बुन्देलखण्ड आल्हा-ऊदल का जीवन रण में जूझ पड़े,
गुजरात हो उठे सजग बचा ले निज असिधारा का पानी,
महिलाओं में से निकल पड़ें कितनी बन झाँसी की रानी ;
हे युग निर्माता अपनी वीणा में वह भैरव राग भरो।
हृदयों में भीषण आग भरो मर्यादा का अनुराग भरो ॥

बन्दी गृह में

मम कारा के शून्य अजिर मे आज व्यथायें खेल रही ।
मानवता पशुता के अत्याचारों को हँस झेल रही ॥
इच्छाये बन्दी बनकर है तड़प रहीं सूनेपन में ।
लहू घूँट पी जीती है पगली उत्कंठायें मन मे ॥
झुक-झुक नीरव नभ निहारता जँगलों और खिड़कियों से ।
बज्र बाहु छटपट करते हैं मुक्ति हेतु हथकड़ियों से ॥
टूट न जायें नीरव निश्चल काली-सी यह दीवारें ।
हा ! कैसी ज्वाला-मय है आशा के आँसू की धारे ॥
जीवन का दुख कहता है यौवन की आग उबल जाओ ।
पर युग-गुरु की मूर्ति कह रही शान्त रहो औ' बल पाओ ॥
नहीं पता है कब तक टूटेगी माता की हथकड़ियाँ ।
द्रुपद-सुता के चीर सदृश बढ़ती जाती दुख की घड़ियाँ ॥

वर्षा और बन्दी

सावन की सूनी रजनी में जब बादल छाये होते है !
यह जगत स्वार्थी क्या जाने हम सोते है या रोते है !
जब दादुर शोर मचाते हैं जब बिजली विहँसा करती है ।
तब अन्तरतमकी दबी आग क्यों धधक अचानक उठती है।
नाहक इतना दुख झेल रहा हूँ क्यों ? दुनिया की शका है ॥
कैसे समझा दूँ आह ! लुटा दी क्यों सोने की लंका है ॥

चमको चपले, बरसो बूँदो, प्रमुदित होओ हे देशबन्धु,
सुख से लूटो पावस प्रमोद, तरने दो मुझको कष्ट-सिन्धु !
ज्यों वर्षा की अँधियारी मे भी जुगनू ज्योति जगाते हैं।
वैसे मम काले नियति दुर्ग पर आशा दीप दिखाते है ॥
कोई दिन तो आवेगा जब जय-श्री जयमाला मेलेगी।
वर्षा बीतेगी, मम आँगन मे शरच्चन्द्रिका खेलेगी ॥

असफल

किस असीम अँधियारी में यह असफल मुख ले जाऊँ;
जिससे छिद्रान्वेषी जग का हँसना देख न पाऊँ?
उफ! जगती का कुटिल-व्यंग्य अब सहा नहीं जाता है;
इस प्रकाश के मेले मे अब रहा नहीं जाता है।
उर को क्षत—विक्षत करता 'अपनों' का आश्वासन है।
अरे! पराजित को पहनाना हार क्रूर—दंशन है।।

किस अदृष्ट ने हा! मेरे उपवन में आग लगा दी?
किस ने मम अभियान-मार्ग मे असफलता बिखरा दी?
किसको मेरी मदमाती मस्तानी चाल न भाई?
जो इतनी निर्दय ठोकर पीछे से आज लगाई?
आ असफलते! सिखा—सिखा कुछ शेष यही अब धन है;
अरे! पराजित को पहनाना हार क्रूर—दंशन है!

———

स्मृति !

दूती प्रवीण गत-युग की,
उफ ! छेड़ रुलाती क्यों हो ?
विस्मृति के सोये सपनों—
को सजनि, जगाती क्यों हो ?

• • •

अंतर में मत आ छलने
ऊँह दूर ! अरे मतवाली !
भावना पटल पर आँको—
मत उन अधरों की लाली।

• • •

मत नाचो इन उन्मीलित—
नयनों पर मेरी आली !
पीड़ामय मूक मिलन के
वह दृश्य दिखाने वाली !
दर्शन कालीन विवशता—
के दृश्य दिखाती क्यों हो ?
मेरी लज्जित—लज्जा को,
अब अधिक लजाती क्यों हो ?

वे दिवस हो गये सपने,
जिनकी बातें करती हो।
वे विगत हो गईं रातें
जिनका सँदेश कहती हो॥

• • •

पीड़ा न गुदगुदी की अब
सह सकता उर बेचारा।
फट पड़े कहीं न फफोला
बन कर आँसू की धारा॥

—

शैशव

कुछ कहो, कहाँ से आये हो,
यह कलुष-हीन जीवन लेकर ?
विधु के प्रकाश-सा मेघों मे,
यह हास्य भरा रोदन लेकर ?

• • •

यह धूलि-धूसरित तन लेकर,
यह राजाओं-सा मन लेकर ?
विकसित प्रभात-सी पुलक लिये,
स्वर्गिक-सुख के कुछ क्षण लेकर ?

• • •

अँग-अँग में ऊपा-सी लाली,
मन मे लतिका-सी हरियाली ;
तुम देव-दूत से करते हो,
अकलुप-जीवन की रखवाली ।

• • •

इस हृदय-कुंज के फुल्ल—'सुमन',
मेरे दुलार के पात्र प्रथम !
कितना हुलास भर देता है,
अन्तर में तव तुतला उपक्रम !

° ° °

प्रतिभा की गोदी में पलते,
इतिहास-पृष्ठ के हे गौरव !
पौरुष है जग-भर का तुम में,
क्या नहीं जानते प्रिय शैशव ?

° ° °

अज्ञात तुम्हारा है अतीत,
औ जीवन है तव हर्ष भरा।
तुम हो प्रणम्य प्रिय तव भविष्य,
संघर्ष भरा ! उत्कर्ष भरा !

यौवन से

तुम कौन, कहाँ से आये हो,
प्रति-गति में मृदु-स्पन्दन लेकर ?
किस शशि को छूने ओ जीवन—
के ज्वार उठे क्रन्दन लेकर ?

शिशुता के प्याले में भर दी,
क्यों पीड़ा ये शतशत लेकर ?
भावों के भव्य-भवन मे यह
आकांक्षाएँ उन्मद लेकर ?

मानस के विकसित कमल-कोश—
मे होता किस अलि का गुंजन ?
मन को किस अलस भरे मधु ने
है बना दिया उन्मन-उन्मन ?

क्यों मन सागर की चल लहरें
मर्याद लाँघने हैं जातीं ?
छबि के शशि का कर खींच,
प्रेम के पाश बाँधने हैं जातीं ?

बस वैभव-बर्षा रुके, रुके,
जीवन का प्याला भरे नहीं !
छलके न कहीं यह भर करके,
देखो, मधु इतना भरे नहीं !

जरा से

जीवन के मधुमय प्याले मे,
यह गरल कहाँ से भर आया ?
मधु-ऋतु की फूली डाली में, मधु झूम रहा था खिल-खिलकर।
पलके भी झपीं न फूलों की, तुम आये रुदन लिये सत्वर॥
नैराश्य, शिथिलता का सागर,
फिर रोम-रोम में भर आया। जीवन...

यह तरी उमगती फिरती थी रे, समय सिन्धु मे लहर-लहर।
क्या जाने कब, कैसे औचक, तुमने कर दिया उसे जर्जर॥
फिर नन्हीं रोग लहरियाँ ये,
क्यों रोम - रोम मे भर लाया ? जीवन...

संसार

(१)

प्रति निमेष में यहाँ दीखता एक नया बाज़ार सखी,
श्वासों के झूले पर झूल रहा है यह संसार सखी!
कभी विजय है इस जीवन मे और कभी है हार सखी,
रुदन, हास्य में ही कटते हैं जीवन के दिन चार सखी!
एक-एक करके आते है पतझड़ और बसन्त सखी,
इस असीम के दो कोनों से आदि और है अन्त सखी।

(२)

कहा किसी ने 'जग सुखमय है, यहाँ खेलता है उल्लास।'
'यहाँ रजत सम रजनी से बिखरा है, मेरा सुमधुर हास॥'
कोई बोला 'इस जगती में नित्य व्यथाये नाच रहीं।'
'नियति कसौटी पर पशुता के मानवता को जाँच रही॥'
किन्तु, नहीं, सुख दुख दोनों हैं दो पलकों के खेल सखी,
इस सागर के वीचि-वीचि मे सृष्टि-प्रलय का मेल सखी।

कौमुदी

तुम कौन मौन मुग्धा-बाला-सी
ओढ़े यह अम्बर श्यामल,
मेघों के अवगुण्ठन मे शशि-मुख
छिपा रही उज्वल उज्वल ?

• • •

तुम किस शिशुकी मुसकान विमल,
तुम किस सुकृती की कीर्ति-धवल ?
क्यों आँख मिचौनी खेल रही
निर्झर-झर से चंचल-चंचल ?

• • •

तुम कौन मेनका सुहासिनी
गिरि-गह्वर मे मुसकाती हो ?
तम-कौशिक का उर वेध गहन,
इठलाती हो, इतराती हो ?

• • •

तुम कौन महाश्वेता विरहिन-सी
बहा ओस मिस अश्रु-नीर,
किस पुण्डरीक को खोज रही
कर से सरिता-सर हृदय चीर ?

• • •

तुम क्यों चचल-गति से जाती
अनजान क्षितिज के पार सखी ?
क्या प्रियतम का संदेश पवन का,
लाया हाहाकार सखी ?

• • •

यह क्या तव शुभ्र कपोलों पर
यह लाली कैसी छाती है ?
बोलो, आली, क्या प्रियतम से
मिलने की बेला आती है ?

• • •

यह क्या निमेष भर मे ही तव
उज्वल मुख सहसा म्लान हुआ ?
क्या शुचि संयोग विहान हुआ,
प्रिय पदपर तव अवसान हुआ ?

उस पार

चलो री, चलो चले उस पार ,
जहाँ है अक्षय शोभा सार ;
जहाँ सब पृथ्वी पारावार ,
पहनते अरे क्षितिज का हार ।
जहाँ सुख-दुख है एकाकार ,
चलो बस चलो चलें उस पार ॥

जहाँ कण-कण में भरा हुलास ,
जहाँ प्रतिक्षण बसता मधुमास ;
जहाँ है अमर एक विश्वास ,
जहाँ रे, प्रिय का सुभग-निवास ;
और वह खड़ा लिए उपहार ,
चलो री चलो चलें उस पार ।

जहाँ भूतल के सारे पाप,
कलुष-कालिमा-शोक-सन्ताप;
लीन हो जाते हैं चुपचाप,
'अमर-गायन' में अपने आप,

प्रवाहित जहाँ प्रेम-रस-धार,
चलो बस चलो चलें उस पार॥

जिज्ञासा

कौन है खेल रहा यह खेल ?
आदि औ' अन्त-हीन यह खेल ?
न जिसका भेद किसी को ज्ञात,
और साधारण लगती बात ;
अचेतन-काया में भर प्रान,
बिठाया ला जग में अनजान,
पुकारा 'कहाँ-कहाँ ?' भगवान् !
विश्व खिलखिला उठा नादान ;
जगत का यही कुटिल व्यवहार,
कहीं है आह, कहीं है चाह !

खिलाड़ी, अद्भुत तेरा खेल !
अनोखा, बिस्मयकारी खेल !

अभी होता है मंगल-गान,
अभी ताण्डव करता श्मशान,
अभी होता है स्वर्ण-विहान,
अभी होता प्रकाश-अवसान,

अनोखा अद्भुत रे, यह खेल !
अभी उत्थान अभी है पतन !

—

पावस गान

पावस की रिमझिम-छहर-छहर,
कितनी मोहक, कितनी मनहर!
पर ना जानूँ ये नव द्रुम-दल,
चपला की क्रीड़ा चपल-चपल;
चातक की यह निष्ठा निश्चल,
अज्ञात-वेदना भर प्रति पल;
क्यों करते हिय में घर सत्वर?
यद्यपि इतने मोहक, मनहर!

नदियों के यौवन का विकास,
विहगों के बोली की मिठास;
वन, उपवन की यह हरी घास,
क्यों करती है मन को उदास?
घनघोर-घटा की घहर-घहर,
यद्यपि इतनी मोहक, मनहर!

यह किसका रे पुलकित दुलार,
कर रहा जलद बन नभ-विहार?
यह कैसी रे उन्मद बयार,
कर कम्पित उर के तार-तार—
बह रही कुञ्ज मे लहर-लहर;
पावस की रिमझिम-छहर-छहर।

बूँदों की मुखरित स्वर-लहरी,
औ' इस जीवन की दोपहरी;
दोनों में क्या नाता कह री,
जो उठे हूक हिय में गहरी?
मत व्याकुल हो मन ठहर, ठहर;
लख पावस की रिमझिम-मनहर!

उन्माद

आँखों का उन्माद कह रहा 'पीता जा भर-भर प्याला,
साकी, आधे मुँदे नयन में ढाले जा मादक हाला;
आज जाम-पर-जाम चले, हाँ, आज दौर पर दौर चले,
रुके न 'निक यह क्रम सजनी, हाँ, खूब चले हाँ, और चले।'

पर 'क्या इसमे कहीं तृप्ति है' है विवेक की जिज्ञासा,
चुप रे आत्मज्ञान, शाश्वत है 'और-और' तृष्णा आशा,
क्या है सत्य ? सत्य है केवल पीकर पागल हो जाना,
मुक्ता-मुक्ति-प्राप्ति-हित संसृति के सागर में खो जाना।

जाना है, जाना ही होगा प्रियतम के घर मे सजनी !
फिर क्यों भरूँ न मद-सागर नयनों के गागर मे सजनी !
पीते-पीते भूल सकूँ यदि जागृतपन की याद सखी,
तभी कदाचित उतर सके इन नयनों का उन्माद सखी !

—

मधुर वेदना

मेरे मानस की मृदु मरोर,
रे व्याप्त जगत के ओर छोर!
नैराश्य-आश परिरंभन मे, कोकिल के स्वर के कंपन में,
पीड़ा मद मिश्रित चुम्बन में, अलिकुल के आकुल गुंजन में;
चंचल हुलास मेरा अथोर,
है बना आज मृदु-मृदु मरोर!

इन बेहोशी की घड़ियों में, कामना-कुसुम पंखड़ियों में,
धुँधली स्मृति की फुलझड़ियों मे, विस्मृति माला की मणियों में,
जग की सारी मृदुता बटोर
रे, घुसी निगोड़ी कब मरोर?

अधरों के अरुण किनारों पर, थी नाच रही ज्योत्सना सुघर;
अनुभूति-विहग ने फैला पर, गोधूली के नभ मे उड़कर;
युग-युग की पीड़ायें बटोर
भर दी उर में मीठी मरोर!

अमरत्व-गान

चिर जीवन, चिर यौवन सजनी,
चिर दिन चिर नीरव प्रिय रजनी ;
चिर सरसिज की मोहक लाली ,
चिर चंपा का सौरभ आली ;
चिर उपवन का कोमल गुलाब ,
चिर नयनों की मादक शराब ;
करता विनाश है राहजनी,
पर चिर जीवन, यौवन सजनी !

चिर सरिता का कल-कल निनाद ,
चिर बीते दिन की मधुर याद ;
चिर विश्व-हृदय का द्वैत भाव ,
चिर प्राणों का मृदु-लघु अभाव ;
जीवन की यदपि मृत्यु जननी ,
पर चिर जीवन, यौवन सजनी !

चिर जगती का ताना—बाना,
चिर बुनने वाला मस्ताना;
चिर मेरे कवि की मृदुल गीत,
चिर वर्तमान, भावी, अतीत;
कर रहा अचिर चिर से मँगनी,
पर चिर जीवन, यौवन सजनी।

किसी से

मधु-ऋतु बन करके आओ,
प्राणों में मधु बरसाओ।
मंजुल मराल मानस के,
मत दूर खड़े तरसाओ।
अलि के गुंजन बन आओ,
मैं पुष्प पराग बिछाऊँ।
हे साध्य ! निकट तो आओ,
मैं करुण - विहाग सुनाऊँ।
मेरी साधना परिधि के,
तुम केन्द्र बिन्दु बन जाओ।
मै सौरभ बखेरती हूँ,
तुम मलयानिल बन आओ।
इस कसक भरी दुनिया मे,
आनन्द - रूप हो आओ।
प्याले मे व्यथित - हृदय के,
सुख का आसव ढरकाओ।

तुम प्रथम मिलनके पुलकित—
प्रमुदित चुम्बन बन आओ;
या महा प्रयाण समय के,
आकुल कम्पन बन आओ।
लो, दया भी न चाहूँगी,
निष्ठुरता ही ले, आओ;
बस एक साध दर्शन की,
उसको पूरी कर जाओ।

सारनाथ के खँड़हरों से

सुख स्वप्न हुए, भूलीं वैभव की बातें,
भूले सोने के दिन, चाँदी की रातें;
तुम थे अशोक के पाले, शोक सने हो—
बस याद तुम्हें है कालचक्र की घातें।

बोलो, बोलो ऐ उजड़े विद्या-मन्दिर,
क्या कहते हो यह जग है मिथ्या, अस्थिर ?
जिसको न बुद्ध की दया, युद्ध माधव का—
कर सका सुखी वह क्या हो सकता है थिर ?

ऐ बीते वैभव की समाधि दिल खोलो,
भगवान तथागत की भाषा में बोलो;
हम लुटे हुए, हम पिसे हुए दीवानों—
को मत अशोक के साथ तुला मे तोलो।

आँखों में जल अन्तर मे आग सँजोकर,
हैं बैठे उठकर बहुत दिनों पर सोकर;
तुम नहीं बताते पर दिल का दुख तेरे—
पढ़ लेंगे तेरा हृदय चीर रो रोकर।

ऐ ढेर कंकड़ों, के विनाश की रेखा,
कण-कण मे अंकित है अभाग्य का लेखा;
क्या तुमको हमको लख यह जग अज्ञानी—
कह सकता है हमने भी है सुख देखा?

पद-चिन्ह पूर्वजों के, पथ आज दिखा दो,
जीवन पर मर मिटने की सीख सिखा दो;
ऐ ध्वंस-भग्न दीवारो, सुन लो, सुन लो—
अब 'मूलगन्ध' सँग नवल-प्रभाती गा दो।

गृद्ध

जब जाता है बीत सुखद शैशव का चपल-चपल आह्लाद,
जब जाता है बीत मत्त-यौवन का विकल-विकल उन्माद;
जब जाता है डूब जरा का समय-सिन्धु में सकल-विषाद,
जब न जगत मे रह जाती है नन्हें जीवन की कुछ याद;

× × ×

तब सुन्दरता की समाधि पर आते हो तुम पंख पसार।
हो लो तृप्त अहे! इस दो मुट्ठी मिट्टी के अंतिम यार॥

० ० ०

मैंने देखा है गर्वित कलियों पर अलिकुल की गुंजार,
और वहीं पर पतित पुष्प के रूप और यौवन की हार;
देखा है श्री-हत परित्यक्तों का रे, नीरव-अश्रु निपात,
यह न समझना मुझे नहीं दुनिया का क्षणिक प्यार है ज्ञात;

× × ×

तुम भी जाओगे निश्चय तज कर थोड़े कंकाल कठोर।
फिर भी हो लो तृप्त अहे! ताण्डव-रत, पागल मदिर विभोर॥

? ? ?

ायनों के नील-कमल-दल में,

ुम गन्ध-मुग्ध-मधु-अन्ध-मधुप-मन का आवाहन कर वाले,

हो डाल रही किस हलचल मे ?

यह कैसा रे, दाहक-पराग,

मधु कहूँ इसे या कहूँ आग;

वह कहाँ गया जीवन-विराग ?

हे आत्मज्ञान, फिर जाग, जाग,

ा, सोये रह, सो जाने दे जागृति को भी गर्वित विवेक।

फहराते चंचल अंचल मे।

मद की सरिता-सी वह निकले,

'पीता जा' कोई कह निकले;

हँस लेगी दुनिया पागल कह,

फिर हो जायेगी मौन स्वतः।

छा जाये ऐसी वेहोशी,

जिसको कहते हैं चरम-ज्ञान;

हाँ, आ रे जीवन की उमंग,

वरसा जा अमृत पल-पल में।

है एक ध्येय जीवन का सुख,
पर वह क्या क़ब्र, चिता में है ?
या 'सुख-सुख' कहते जिसे पार—
करते उस दुख सरिता में है ?

• • •

रे उस अनन्त की गोदी में,
सुख-दुख दोनों का चरम-धाम।
जीवन क्या है ! है जीवन तो
मरने ही का दूसरा नाम।

—

जीवन

यह आशा है, अभिलाषा है,
जग जीवन अजब तमाशा है।
यह एक अबूझ पहेली की,
उससे अबूझ परिभाषा है।

• • •

विस्मृति- दुकूल ढँकता अतीत,
ढकता भावी को सुख-सपना।
दुख-सुख के साधन ही लगते—
हैं, जग को 'बेगाना', 'अपना'।

• • •

नयनों मे ले गीली ममता,
ले असंतोष-ज्वाला उर में।
'कठिनाई' से खिलवाड़ कर रहा,
गाते-रोते से सुर में।

• • •

बेबसी

प्रलय सिन्धु से मिलने को बढ़ती हैं हृदय-हिलोरें,
पल भर में सन्ध्या बनने को आती हैं ज्यों भोरें;
जाने मन क्यों चाह रहा छूना छाया की छोरें,
उफ रे, सोई चेतनता को कैसे धर झकझोरें ?

० ० ०

इस बेबसी भरी बेला में आ जा मेरे स्वामी।
स्वर्ण किरण बिखरा तममय अन्तर में अन्तर्यामी !

बसन्त

शोभा की दुनिया लेकर यह कौन सुघर आता है?
वह जाने क्या गाता है, उर सिहर-सिहर जाता है।
उस शाल-वीथिका में री दीखे है कैसी लाली?
माधवी शराब पिये-सी क्यों झूम रही मतवाली?
सखि, पल्लव-पल्लव में क्यों यह बिखर रही हरियाली?
क्यों फूल उठी है आली, मधुवन की डाली-डाली?
उस यौवन-वन से देखो यह कौन सुमन-शर ताने,
अन्तरतर में आता है जीवन में धूम मचाने?

• • •

पीड़ायें बेसुध होकर उन्माद बनी जाती है।
ये आँसू की बूँदे भी मुसकान बनी जाती है।

—

खुले नयल-दल सकुचाये से,
देखा छवि-कण छितराये से,
उर खिल उठा पुलक पाये से,
मेरे स्वर में कण्ठ मिलाकर,
हँसने लगी तारिका-माला।

मेरी यह 'मंगला' यामिनी,
गाती जाये प्रणय-रागिनी,
खिली रहे यह मधुर-चाँदनी,
दें आशीष सृष्टि के कण-कण,
बना रहूँ यों ही मतवाला।

कुमुद की भावना

सजनि, बना हूँ मैं मतवाला,
बरस रहे थे बरबस लोचन,
मन में घिरे वेदना के घन,
दुस्सह था रवि का उत्पीड़न,
सहसा आई संध्या-दूती—
कहने, आती रजनी-बाला।

आते ही बिखराया परिमल,
छलक उठा जगमें मधु छल-छल,
प्राण हो उठे सहसा पागल,
वितरित होने लगी निरन्तर,
शशि प्याले से ज्योत्स्ना-हाला।

मोल-तोल

किसीके जीवन का क्या मोल ?
चिता की अगनित लपटें लोल—
कह रही शत-शत जीभ पसार,
मृत्यु ही है जीवन का मोल।

० ० ०

कब्र का रोता हुआ चिराग़,
गा रहा युग-युग से यह राग,
नाश ही है नव-नव निर्माण,
राग ही बनता सदा विराग।

० ० ०

खँडहरों की दीवारें भग्न,
सत्य को दिखलाती कर नग्न;
प्रलय ही अबुध-सृष्टि का हेतु,
अरे महलो ! वैभव-मद-मग्न !
बोल पागल सौदागर बोल !
सकेगा दे इतना-सा मोल ?

भिखारिन

ऐ करुणा की मूर्ति, अरे ओ दरिद्रते साकार!
तुझे देखकर हँस देता है अभिमानी संसार!!
हे दौलत की दासी, दुनिया की ठुकराई धूल!
तुमने सोचा 'विश्व सदय है,' यह थी तेरी भूल।
सहनशीलते! कहाँ छिपाये हो अंतर की आग?
किस बीतेकी 'चिरकुट' में बाँधे हो करुण-विहाग?
वनवासिनि सीते! तेरे अंतर का हाहाकार;
पल मे सोने की लंका को जला, करेगा छार।
असहाया द्रौपदी! तुम्हारे ये बिखरे से बाल;
कुरुक्षेत्र में धधका देंगे सर्वनाश की ज्वाल।
लुटी हुई पद्मिनी! तुम्हारे आँसू-कण अनमोल;
कर देंगे चित्तौर दुर्ग से पैदा 'हर-हर' बोल।

• • •

अहे नग्नते! विश्व विषमता का सकरुण-आख्यान!
तेरा जीवन बना नियति की व्यंगमयी-मुसकान।

कृषक से

तुम कौन तपस्वी किस प्रभु के पाने को तपते हो निशिदिन ?
तुम एकनिष्ठ हो कौन साधना करते रहते हो पलछिन ?
तुम खड़े खेत मे देखा करते किस विपाद का तिमिर-पुलिन ?
तुम कौन आश ले काट रहे भूखी रातें तारे गिन गिन ?

• • •

तुम जीवन-सागर मथ कर, हे शंकर पी जाते दुःख-गरल।
तुम आँखों ही मे पी जाते जग के आँसू अवसाद तरल।
यह वैभव-मंडित महल सभी पल मे बन जाते तप्त अनल,
जो जग पालक तुम बना न देते जग का जीवन सरस, सरल।

• • •

तुम जाने कब से तप्त चैत की दोपहरी में जलते हो ?
तुम जाने कब से सर्दी पाला पैरों तले मसलते हो !
तुम जाने कब से सूखी रोटी खा बाधायें दलते हो !
तुम जाने कब से एक फटी धोती से जग मे पलते हो !

• • •

इस जग की सभी जटिलतायें अपने दुख सह सुलझाते हो,
पर पुरस्कार में घोर उपेक्षा, तिरस्कार ही पाते हो।

—

अमर-अभाव

पानी के कुछ कण लेकर आये हो आग लगानेवाले,
जल जाने दो, छेड़ो मत, ओ सोई व्यथा जगानेवाले।
वयस-सीढ़ियाँ चढ यौवनके वातायन से झाँक-झाँक के-
खूब याद है, उस दिन, उस दिन, मेरे प्राण लुभानेवाले।
कितना हर्ष, उमङ्गे कितनी, कितनी आश, हुलासें कितनी,
भर दी तुमने उस छोटे से क्षण मे चित्त चुरानेवाले।
अपनी डोरीली आँखों के मधु-सरि के शैवाल-जाल मे—
मेरे मन के मत्त मीन को लुब्ध बना उलझानेवाले।
कितना शीघ्र छोड़ भागे थे एक नई दुनिया दिखला के—
फिर क्या लौट सकेगे वे क्षण, नए रूप में आनेवाले?
कितनी कसक, वेदना कितनी, कितनी पीड़ा है अतर मे—
जान सकोगे, मुझे 'भूल जाने' का मर्म सिखानेवाले?

• • •

अब तो एक साधना का धन, गहरे गाड़ रखा जीवन में,
उर के 'अमर-अभाव' बने रह, आज प्यार दिखलानेवाले।

—ः—

तुम इतिहासों की उपेक्षिता, तेरे 'जौहर' का कौन मोल ?
है कहाँ लिखा पुँछना सिंदूर का, आँसू के कण गोल-गोल—
जो बिखर रहे हैं रोज-रोज।
रे जग, पानीपत, कुरुक्षेत्र में उनकी गरिमा खोज-खोज।

० ० ०

तुम हो ममता की मूर्ति जननि, तुम हो पत्नी सेवावतार ;
तुम क्षमा रूप बहना प्यारी, बेटी मृदुता की शुभ-सिंगार।
तुम यशुदा, कौशल्या ललाम ,
तुम ईसा की जननी मरियम, तुम पैदा करतीं कृष्ण-राम।
हे जगज्जननि शत-शत प्रणाम

———

नारी

तुम हो नव-नव-निर्माण और तुम महानाश उत्कट, कराल;
तुम कोमलाङ्गिनी अबला औ' तुम महाशक्ति की प्रखर ज्वाल।
पर तेरा सहचर लाज-शील,
युग-युग से तेरा यश गाती, धरती विराट, आकाश नील।

• • •

तुम तमसाकार अमावस्या, तुम शरच्चन्द्र की विभा-धवल;
तुम गौरव-गिरि उत्तुङ्ग शिखरिणी, माया गह्वर-अतल-वितल।
पर हो करुणा की एक सृष्टि,
तेरी आँखों से मिलते ही हो जाती है अवरुद्ध-दृष्टि।

• • •

तुम शीतलता की नव-फुहार, तुम वह्निमान-गिरि-ज्वाल-माल;
तुम एक-एक शत-शत महिमा, तुम अग-जग की शोभा-विशाल।
तुम नारीश्वर, तुम महारम्भ,
तुम अटल-साधना, अमर-साध, तुम विपुल-शान्ति निश्छल अदम्भ।

• • •

पर जीवन के सूनेपन में,
विस्मृति के नीरव से क्षण में;
कुछ ऐसा लगता है मन में—
मैं भूल कहीं कुछ आया हूँ, जिसकी स्मृति रह-रह जाती खल।
प्रेयसि, फिर नीरव सूनापन।

मेरे सूनेपन का विराग,
मेरे जीवन का अरुण-राग;
दोनों का है अक्षय-सुहाग,
कुछ विस्मित-चितवन के खंजन, पैदा कर जाते उथल-पुथल।
प्रेयसि, यह प्यारा सूनापन।

—

सूनापन

प्रेयसि, अब केवल सूनापन,

लेकर आया था जीवन-पथ पर पागलपन का कोलाहल;

रे नयन कलश में भर पानी,

ले उत्सुक ममता दीवानी,

करने को किसकी अगवानी—

कोई आया था एक नशा-सा, पैदा करने चहल-पहल ?

प्रेयसि, फिर तो सब सूनापन।

आँखों का पानी ढार दिया,

कह किसका पाँव पखार दिया ?

मम उर का भार उतार दिया,

फिर विद्युत-गति से चला गया, मन-मन्दिर का सब ले हलचल,

प्रेयसि, फिर तो सब सूनापन।

पुरुष-प्रकृति की नव-नव आशा,
बढ़ने बनकर लगी पिपासा,
सृजन लगा चलने अब पग-पग,
हास्य-रुदन से गूँज उठा जग,
आओ कर लें जितना भी हो पाप-पुण्य संकलन प्रिये,
क्या जाने किस महालग्न मे हुआ हमारा मिलन प्रिये !

—

क्या जानें ?

क्या जानें किस महालग्न में हुआ हमारा मिलन प्रिये!

हम एकाकी अपने पथ मे,
जीवन के अनियन्त्रित रथ मे,

चले जा रहे थे अन्तर से लेकर मीठी जलन प्रिये!
क्या जाने किस महालग्न में हुआ हमारा मिलन प्रिये!

रूपसि, तेरी अरूप रेखा,
लगता, कभी और है देखा,
किस असीम की सीमा से कब हुआ हमारा स्खलन प्रिये,
क्या जाने किस महालग्न मे हुआ हमारा मिलन प्रिये!

नर के अंतर का नारीपन,
कब साकार हुआ शोभा बन,
कब विस्मित नयनों का सुख चुपके बन आया सृजन प्रिये,
क्या जाने किस महालग्न में हुआ हमारा मिलन प्रिये!

पाप

उस सुन्दरि का रूप निरेखा, जग कहता है 'पाप किया।'
उस युवती से हँस कर बोला, जग कहता है 'पाप किया।'
उस विधवा के आँसू पोंछे, जग कहता है 'पाप किया।'
उस ग़रीबिनी के दुख पूछा, जग कहता है 'पाप किया।'
मानवता का ह्रास पुण्य-पर्दे मे लख संताप हुआ।
अरे ज़रा-सा हृदय हमारे जीवन का अभिशाप हुआ।

कैसे आँसू देख किसी के अपना जी भर आये ना?
कैसे चारु चन्द्र लखने को मन चकोर ललचाये ना?
कैसे दिल पत्थर हो जाये, स्नेह-सुधा सरसाये ना?
समवेदना दिखा कर भी दुखियों के दर्द बटायें ना?
कैसे किसी सहारा को फैले कर को झटकार सकें?
कैसे इस समाज के डर से अपने मन को मार सकें?

पर्दे की रानी

तुम पर्दे में कौन, बोल मेरे पर्दे की रानी,
यही पूछती है कब से जग की असीम नादानी।

• • •

कैसा तेरा रूप तनिक प्रेयसि अवगुण्ठन खोलो·
अयि, रहस्यमयि! इस पर्दे मे क्या है कुछ तो बोलो
पर्दे पर है दीख रही स्मृति के कम्पन की छाया
अमर-प्रतीक्षा की आतुरता, नन्दनवन की माया
किन्तु प्रतीक्षा किसकी, किसकी स्मृति ओ री दीवानी!
यही पूछती है कब से जग की असीम नादानी।

• • •

जब मधु-ऋतुकी मधुर व्यथासे कूक उठी पिक ललना,
इस पर्दे पर मूक उठी रव 'चलरी, सखि, चल, चल ना!'
हूक उठी पर्दे के पीछे इच्छाओं की छलना,
ग़लतफ़हमियों की दुनिया में फूँक-फूँककर चलना।
पर यह चलना किधर और कैसी इच्छायें रानी!
यही पूछती है कब से जग की असीम नादानी।

अमर प्रतीक्षा

सखी! यह अद्भुत एक कहानी,
कि जिस में राजा और न रानी;
वीते युग का घाव हरा था,
मन में एक अभाव भरा था,
अन्तर मे कुछ चाव धरा था,
कि जिसका साखी देने खड़ा—
अभी तक है आँखों में पानी।

खुला सामने था विराट-पथ;
ज्ञात नहीं रे जिसका इति-अथ,
अनायास चल पड़े पाद-श्लथ,
कि यों क्रम-क्रम से होने लगी—
सखी, छोटी से बड़ी कहानी।

कुछ चलने पर लगा कि कोई—
रहा पुकार, गई मै खोई,
क्षण भर को चेतनता सोई,
पुनः आतुर उत्कंठा जगी,
बढ़ी पल-पल मे व्यथा विरानी।

हृदय हीनता नगे नाच रही घर-घर मे, नगर-नगर में,
सहृदयता ठोकरें खा रही जीवन के हर अगर-मगर में ।
पैसों के खनखन पर लुटती यश-मर्यादा डगर-डगर मे,
किसको है अवकाश कि देखे आग लगी है किसके घरमें ?

तनिक स्नेह विगलित होने मे अपरिसीम सन्ताप भरा है,
अन्धे जग की आँखों की कुत्सित-भाषा मे पाप भरा है।

मिलन

अमरपुरी के पान्थभवन मे हम दोनों मेहमान प्रिये,
किस अनजाने पथ से आकर उस दिन मिले अजान प्रिये !
देखी हमने नजर नजर में,
स्मृति सी कसक उठी अन्तर में,
जीवन में मधुमास आ गया,
अधरों पर उल्लास छा गया,
पर लज्जा होठों ही मे पी गई तरल मुसकान प्रिये,
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिन मिले अजान प्रिये !

पावस की शुभ रतियाँ जागीं,
नस-नस में झंकृतियाँ जागीं,
प्राण, आत्म-विस्मृतियाँ जागीं,
गतियाँ और अगतियाँ जागीं,
हुआ हमारे उत्सुक मन का उभय मौन आह्वान प्रिये,
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिन मिले अजान प्रिये !

किस भिखारिणी के अंचल में कब नीलम औ' लाल भरे थे!
किस सौन्दर्य-विहीना के अधरों पर अरुण-प्रवाल धरे थे!
अरे! हमारे चर्म-चक्षु को जैसी दुनिया दीख रही है;
क्या निश्चय है, वस्तु वही है, सत्य वही है, ठीक वही है?
तनिक किसी के अन्तर्जग में आँसू ले घुस पातीं आँखे!
धन्य मानता, पूरी होतीं शत-शत जीवन की अभिलाषें!

सूझ न पड़ता दिग दिगन्त है,
क्या यात्रा का यही अन्त है?
इसके आगे राह नहीं क्या?
टिक रहने की चाह नहीं क्या?
अरे, कह रहा कौन पड़ा है पथ-विराट सुनसान प्रिये?
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिन मिले अजान प्रिये!

क्षण भर और किलकलो हँस लो,
याँ की फिसलन पर मत फिसलो;
मिलन-मदिर पी छक लें छक लें,
फिर अज्ञात देश को निकलें,
दें पड़ाव यह तोड़ नहीं दूरी का कुछ अनुमान प्रिये।
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिन मिले अजान प्रिये!

आँखों मे मदमस्ती भूली,
सारे जग की हस्ती भूली,
मैं तुझमें तू मुझमे रानी,
मिल कर एक हुई दीवानी,
ऐसा लगा कि युग-युग की मेरी तेरी पहचान प्रिये,
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिन मिले अजान प्रिये !

रोम-रोम की मृदु सिहरन मे,
श्वासोच्छ्वास पुलक-कम्पन मे,
उभय-वक्ष के नव-स्पन्दन मे,
कण-कण मे क्षण-क्षण मे मन में,
विविध-वाद्य बज उठे लगा होने मृदु-मङ्गल गान प्रिये,
किस अनजाने पथ से आ हम उस दिम मिले अजान प्रिये !

हाँ, क्या गाते थे ? प्रथम-पक्ति ही भूली,
छिः ! जीवन की ममता लख फाँसी शूली !

बस बँधे-बँधे ही बजे हमारी ताली,
कण-कण मे बिखर पड़े यौवन की लाली ।

हो उठे असंभव बंधन की रखवाली,
हम सिंह-सुवन हुंकार उठें 'जय काली ।'

अन्तर्ज्वाला

कुछ कहें? कहें क्या मुँह पर तो है ताला,
सच कह दें पल में होगा देश निकाला।

उर में तो जलती ही रहती है ज्वाला,
तोपे जाते हैं सह-सह उसे कसाला।

आहों में कह दें? उस पर भी पहरा है,
क्रन्दन-ध्वनि कौन सुनेगा? जग बहरा है!

इंगित से कह दें? उफ रे! हथकड़ियाँ हैं,
वस सोने दे लाचारी की घड़ियाँ हैं!

आश्चर्य! अरे क्या हुई मरण-अभिलाषा?
जीवन पर मर-मर कर जीने की आशा?

ना, कटे जीभ, गायेंगे वही तराना,
लाचारी का है कितना घृणित बहाना!

हाँ, क्या गाते थे ? प्रथम-पंक्ति ही भूली,
छिः ! जीवन की ममता लख फाँसी शूली !

बस बँधे-बँधे ही बजे हमारी ताली,
कण-कण में बिखर पड़े यौवन की लाली ।

हो उठे असंभव बंधन की रखवाली,
हम सिंह-सुवन हुंकार उठें 'जय काली ।'

दूर देश से—

रानी !

यह उच्छ्वास अपरिमित ! यह इस काग़ज़ की लघुता रे !
कैसे व्यक्त करूँ उर के अनुभूति कणों की व्याकुलता रे ?
बस इतना ही जानो प्रेयसि, स्मृति-मदिरा बेहोश किये है ;
और इसी पर यह व्यापारी दुनिया सारी रोष किये है।
कविता एक, एक तुम, बाले ! मेरे जीवन की तो निधियाँ ;
इन्हें त्यागने पर सुनता हूँ पग चूमेंगी ऋद्धि-सिद्धियाँ।
आग लगे इस ऋद्धि-सिद्धि में, प्रिये मुझे स्वीकार नहीं है ;
अरे पेट भर मिलता जाये 'लाखों' की दरकार नहीं है।
हमने देखे हैं वैभव की छाया मे पलते पापों को,
भला करेगे क्या एकत्रित कर दुखियों के अभिशापों को ?
बस रहने दो सह्य न होगा यह विक्षिप्त प्रलाप तुम्हें रे,
डर लगता है लगे न मम अन्तर्ज्वाला का ताप तुम्हें रे !
इस दूरी की व्यथा नापने का कोई भी मान नहीं है,
किन्तु, हृदय के किस कोने का बोलो, तुम को ज्ञान नहीं है ?
दूर देश में बैठा हूँ, तव रक्षक है बस अन्तर्यामी ;
सुखी रहो, सुखमय वसन्त हो, लो बस विदा !

तुम्हारा स्वामी।

बेकारी

मुँह का रोटी छीन आज कहते हो करो न चोरी,
सभ्य कहाने वालो, अब न चलेगी यह बरजोरी।
चाँदी के चमचम में श्रम का कुछ भी मूल्य न आँका,
आज भूख की ज्वाला कहती डालो, डालो, डाका।
अपने जीवन-पथ का रुका हुआ है नाका-नाका ;
और तुम्हारे घर फहराती निशदिन रजत-पताका ॥

• • •

वह देखो, उस रूप हाट मे बैठी रूप कुमारी,
बेच रही है लाज आज भारत की पावन नारी।
पाप ? पाप है शोषण-दोहन-जनित घोर बेकारी,
वह तो अपना पेट पालती है समाज की मारी !
उसके जीवन पथ पर तो है घोर तमिस्रा छाई;
और तुम्हे है पाप-पुण्य की देनी महज दुहाई ॥

• • •

शांति, अहिंसा और सभी आदर्शवाद के नारे,
हीरा, मोती के पन्नों पर लिख कर मत दिखला रे!
हम बेकारी और 'पेट की पीड़ा' के है मारे,
और हृदय में जलते रहते है शत-शत अंगारे।
यहाँ पेट मे आग लगी है सब कुछ लगता फीका;
तुम्हे धर्म को क्रय करके है लेना यश का टीका।

• • •

तब महलों में पग-पग पर मंडित है चाँदी सोना,
यहाँ फूस का छप्पर टूटा चूता कोना-कोना।
यह कैसा अभिशाप! लगा यह किस जगती का टोना?
तुमको तो हँसना भाता है यहाँ भाग्य को रोना।
क़दम-कदम पर टूट रहा दम हाय! हन्त हत्यारे!!!
फैला, आह! महामारी को, कह सभ्यता दिया रे!

• • •

सावधान ! तुम जहाँ खड़े हो वहीं लगी है काई,
अरे सँभल जाओ, देखो, है आगे पीछे खाई।
अब पैसों, का पाप छिपाये छिप न सकेगा भाई,
रक्त कहाँ? अब अस्थि छोड़ दो, ओरे क्रूर कसाई!

हम न किसी का बुरा चाहते हमे चाहिये रोटी,
वरना हम भूखे खायेंगे इस समाज की बोटी।

भावना....

कहती - सी है सुरसरि - तरंग,
ऐसा ही जग का रंग - ढंग।
ऐसे ही लहरें आती हैं, ऐसे ही लहरें जाती हैं,
उत्कण्ठा-सी उठ जाती हैं, हत-आशा-सी गिर जाती हैं
ज्यों जल तरंग, त्यों जग - उमंग,
कहती - सी है सुससरि - तरंग।
जानें कब से बह रहा नीर, बन, पर्वत, झाड़ी चीर-चीर,
त्योंही अनादि से जग अधीर, दलता आता है व्यथा-पीर।
यह गति अनन्त यह गति अभंग,
कहती - सी है सुरसरि - तरंग।

....और आज

हाँ प्रिये कुछ याद आया,
उस सुहागिन रात में वह कौन सा उन्माद आया।

आँख की इन पुतलियों में
फिर रही थी चिर पिपासा,
जलमयी बरसात भी
यह प्यास भी अद्भुत तमाशा।
कब अचानक स्वाति के दो बूँद का सम्वाद आया।

साध की अमराइयों मे—
वेदना पिक व्यग्रता-सी,
पुलक नाची, ललक रोई
दीप की अन्तिम शिखा-सी,
हाँ, तभी तव नूपुरों का मृदुल-मधुर-निनाद आया।

दिशा-वधुओं के उड़ा अञ्चल—
पवन—गति से निरेखा,
लगा पाया, तुम्हें, देखा,
लगा, पाकर भी न देखा ;
तभी नवल प्रकाश-सा बन एक नन्हा चाँद आया।

चन्द्रिका का यह विभुत्व
विराटता का तव प्रदर्शक,
हे शुभे, अब देखने को—
क्या रहा यह तुच्छ दर्शक ?
आज प्रबल प्रमाद खो, साकार हो आह्लाद आया !

—

मैं

जो पदों तले रौंदा गया औ'
चुभा किया आप ही में वह शूल हूँ मैं।
जहाँ विश्व का कोई कठोर हृदय,
गला आँसू बना वह कूल हूँ मैं।
जिनसे मन चाहे घिरौंदे बना,
जग ने ठुकराया व' धूल हूँ मैं।
बिसराने से भी बिसरे जो नहीं,
व' किसी के जवानी की भूल हूँ मैं।

• • •

निकले जो नहीं रह जाये दबी—
दबी अन्तर में वह आह हूँ मैं।
सपनों के किले रत्नाकर की—
लहरों प' बनाने की चाह हूँ मैं।
चुभ जाये निगाहों में देखते ही,
चुभती व' किसी की निगाह हूँ मैं।
जिन्हें बाँटनेवाला मिला ही नहीं,
व' अकेले हृदय की उछाह हूँ मैं।

नव किंशुक और पलाश में फूले,
बसन्त की लाल अभिलाषा हूँ मैं।
नभ में उमड़ी हुई वारिद मालिका—
में, वर्षा की पिपासा हूँ मैं।
शरदेन्दु की शुभ्र छटा में वियोगी—
की साधना की परिभाषा हूँ मै।
झरती हुई शुष्क - सी पत्तियों—
मे, पतझार की पीत निराशा हूँ मैं।

अन्तिम तीर

जीवन के चिर-मृदु-अभाव का रुदन एक उपहास,
हँसी हृदय की पीड़ा के गोपन का विफल प्रयास।
यहाँ न रोने को तिल भर धरती मिलती एकान्त,
हँसी चाहिये यहाँ मुक्त हो अथवा भाराक्रान्त।
एक समस्या बना हुआ है जग में मम मधु-पान,
कैसे जियें बताये कोई पिसे हुए अरमान।
कितने तीर चुभे है इस अन्तर में जाने कौन,
हम टीसों में टटोलते आते हैं कब से मौन।
अब तक के अनुभूत व्रणों से निकले अन्तिम तीर,
हरे रहे यह व्रण अनन्त तक होती जाये पीर।